कहानियाँ बलिदान की



प्रकाशन विभाग

कहानियाँ बलिदान की

अक्षय कुमार जैन

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : जनवरी 1978 ● पौष 1899

मूल्य : 4.00

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग
सुपर बाजार, कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
8 एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700001
शास्त्री भवन, 35 हैड्डोस रोड, मद्रास-600006

नवदीप प्रिंटर्स, सी-27, इंडस्ट्रियल एरिया, मेरठ रोड, गाजियाबाद

भूमिका

हमारे देश का इतिहास अत्यन्त रोचक एवं गौरवपूर्ण रहा है। प्रकृति ने इस धरती को धन-धान्यपूर्ण बनाया है। यहां के निवासियों का जीवन सुख-सौजन्य एवं स्वाभिमान से परिपूर्ण रहा है। शायद इसके विपुल ऐश्वर्य ने ही विदेशी आक्रमणकारियों को अपनी ओर ललचाया है। समूचे इतिहास में देशवासियों को समय-समय पर अपनी रक्षा के लिए प्राणों की आहुतियां देनी पड़ी हैं। यह हमारे देश का अति उज्ज्वल पक्ष है और इस पर हमें गर्व हो, यह स्वाभाविक ही है।

ये 'कहानियां बलिदान की' नई पीढ़ी के हमारे पाठकों को समुचित स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करेंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

—सम्पादक

विषय-सूची



आल्हा और ऊदल

छज्जू भगत ने उस दिन देश-प्रेम के दीवानों की बात करते हुए कहा कि देश-प्रेम का फूल किसी वर्ग विशेष में नहीं फलता-फूलता, बल्कि देश के प्रत्येक प्राणी में इसके अंकुर होते हैं। जरूरत इस बात की होती है कि उसे बढ़ने और फलने-फूलने का मौका मिले। जैसा वातावरण होता है, उसी प्रकार यह अंकुर अपना रूप धारण कर लेता है। एक समय था जब इस प्रकार की भावना केवल क्षेत्रीय रक्षा तक ही सीमित थी। तब उसे ही देश-प्रेम कहा जाता था।

आल्हा-ऊदल का नाम तो आपने सुना ही होगा। महोबा के राजा परमाल थे, जिन्हें परमर्दि देव के नाम से भी पुकारा जाता था। ये दोनों भाई उन्हीं के यहां सैनिक थे। दोनों भाइयों ने अपनी योग्यता से राज-परिवार में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। ऊदल जहां तलवार चलाने में अपना सानी नहीं रखता था, वहां आल्हा में वीरता के साथ-साथ सूझ-बूझ बहुत थी। वे सदैव राजा परमाल को उचित सलाह देते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि देश के राजाओं का ऐसा संघ बनाया जाए जो एक होकर देश की रक्षा कर सकें। इसके लिए उन्होंने वातावरण भी तैयार किया लेकिन उनके रास्ते में रोड़ा खड़ा करने वालों की भी कमी न थी।

उस समय उत्तर भारत में कन्नौज, दिल्ली और महोबा—ये तीन बड़ी शक्तियां थीं। ये तीनों शक्तियां आपस में लड़ा करती थीं। आल्हा इसके विरुद्ध थे। वह चाहते थे किसी प्रकार तीनों शक्तियां एक हो जाएं। महाराज परमाल का महामंत्री आल्हा की उन्नति से ईर्ष्या करता था। उसकी रात-दिन यही कोशिश रहती थी कि किसी प्रकार आल्हा को अपमानित किया जाए।

मंत्री ने आल्हा को महाराज परमाल की नजरों में गिराने के लिए कुछ अधिकारियों को अपने साथ मिलाया, इस तरह वह आल्हा की हर योजना का विरोध करने लगा। आल्हा-ऊदल वीर थे। उनकी वीरता का सिक्का महोबा के लोग मान चुके थे। स्वयं महाराज भी दोनों भाइयों से खूब प्रसन्न थे। महामंत्री ने षडयन्त्र रचकर महाराज परमाल को दोनों के खिलाफ कर दिया और फिर देशनिकाले का दण्ड दिलाया। दोनों भाई माता देवलदेवी के साथ राज्य से बाहर हो गए। उन्होंने कन्नौज जाकर जयचन्द के यहां शरण ले ली। महाराज जयचन्द ने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया।

आल्हा-ऊदल का महोबा से जाना था कि दिल्ली के शासक पृथ्वीराज ने अपनी सेना लेकर महोबा पर चढ़ाई कर दी। उन दिनों महोबा और दिल्ली के सम्बन्ध अच्छे न थे।

महाराज परमाल को चिन्ता हुई। यद्यपि महोबा में काफी सेना थी किन्तु आल्हा-ऊदल जैसे वीर नहीं थे। उन्होंने आल्हा-ऊदल को देश-निकाला दिया था जिसके कारण कुछ सैनिकों में भी वह उत्साह न था। उन्होंने अपनी चिन्ता राजमाता मल्हना देवी से कही। मल्हना और देवलदेवी के सम्बन्ध बहन के से थे। राजमाता ने जगनिक कवि को दूत बनाकर कन्नौज भेजा और सन्देश में कहा कि महोबा पर विपत्ति के बादल छाए हैं। तुम लोगों ने महोबा का पानी पिया है, यहां की धरती में खेलकर बड़े हुए हो। आज महोबा की धरती पर शत्रु के पैर पड़ने वाले हैं। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि आकर इस धरती की रक्षा करो।



कहते हैं कि माता देवलदेवी के कहने पर आल्हा-ऊदल महोबा गए। वे महोबा की रक्षा करने जब आए तब वे साधु वेश में थे। इतिहास जानता है कि उन दोनों की वीरता और शौर्य ने महोबा को बचा लिया।

छज्जू भगत ने थोड़ा रुक कर और लम्बी सांस लेते हुए कहा—बाबू, आल्हा बड़े दूरदर्शी थे। वह ऐसी सेना का निर्माण करना चाहते थे जिसमें तीनों शक्तियों के सैनिक हों और व्यय तीनों राज्य दें। वह सेना पश्चिम से आने वाले खतरे का सामना करे। आल्हा ने अपनी कुशलता से महोबा और कन्नौज के सम्बन्ध सुधार दिए थे। दोनों का हृदय एक कर दिया था किन्तु वह दिल्ली के दिल को न जीत सके।

आखिर हुआ वही जिसकी चिन्ता आल्हा को सता रही थी। पश्चिम से मुहम्मद गौरी का हमला हुआ। पृथ्वीराज पराजित हुए और उसके बाद महोबा और कन्नौज का भी पतन हो गया।

लेकिन कालिंजर का इतिहास बताता है कि उसे लेने में हमलावरों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह भी कहा जाता है कि यद्यपि आल्हा ने युद्ध से सन्यास ले लिया था, किन्तु कालिंजर की लड़ाई में उन्होंने छद्म वेश और छद्म नाम (अजय) से भाग लिया। उस लड़ाई में माता देवलदेवी और आल्हा की पत्नी सोना ने भी भाग लिया। उन्होंने देश की रक्षा में अपने खून की अन्तिम बूंद तक दे दी।



पृथ्वीराज चौहान

चार बांस चौबीस गज अंगुल अष्ट प्रमान

ता ऊपर सुलतान है मत चूके चौहान

दोहा सुनाकर छज्जू भगत ने अपनी बात आगे बढ़ाई। उन्होंने कहा कि जिस व्यक्ति के संबंध में यह दोहा प्रचलित हुआ उसे इतिहासकार पृथ्वीराज तथा राय पिथौरा के नाम से पुकारते हैं। पृथ्वीराज दिल्ली का आखिरी हिंदू शासक था। इसी के समय में शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने 16 बार उसे पराजित कर खदेड़ दिया किन्तु 17 वीं बार हार जाने के बाद कैदी बनाए गए। गौरी उन्हें अपनी राजधानी ले गया। कहते हैं कि कैदी के रूप में ही उन्होंने अपने दरबारी कवि और मित्र चंद बरदाई के संकेत पर गौरी को तीर का निशाना बनाया।

पृथ्वीराज चौहान बहादुर बाप के बहादुर बेटे थे। उनके पिता चौहान सोमेश्वर प्रतापी पुरुष थे। उन्होंने अजयमेरु जिसे आजकल अजमेर कहते हैं, राज्य की नींव रखी। धीरे-धीरे अजमेर राज्य उन्नति करता गया। उनका विवाह त्रिपुरी जिसे आजकल जबलपुर कहते हैं के शासक अचलराज की कन्या कपूरदेवी के साथ हुआ था। राजकुमार पृथ्वीराज का जन्म इन्हीं कपूरदेवी की कोख से 1166 ई० में हुआ।

पृथ्वीराज बचपन से ही बड़ा बहादुर था। घोड़े की सवारी, तीर और तलवार चलाने में वह बहुत जल्दी ही निपुण हो गया। जब सोमेश्वर चौहान की मृत्यु हुई तो वह अजमेर का शासक बना और कुछ ही दिनों में उसने अपनी बहादुरी का सिक्का जमा लिया। दिल्ली के राजा अनंगपाल के कोई सन्तान न थी। इसलिए उन्होंने पृथ्वीराज को

अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। दिल्ली के सिंहासन पर बैठ कर पृथ्वीराज ने आसपास के राजाओं पर अपना सिक्का जमाना शुरू किया।

कन्नौज के राजा जयचन्द से पृथ्वीराज की न बनी। दोनों एक-दूसरे के दुश्मन हो गये। राजा जयचन्द की पुत्री संयोगिता पृथ्वीराज को अपना पति बनाना चाहती थी। उस समय स्वयंवर की प्रथा थी। जयचन्द ने उसके विवाह के लिए भी स्वयंवर रचा। उसमें उसने आसपास के सभी राजाओं को बुलाया, किन्तु पृथ्वीराज को न्योता न दिया। स्वयंवर वाले दिन उसने पृथ्वीराज की एक आदमकद मूर्ति डयोढ़ी के पास जहां दरबान खड़े होते हैं, खड़ी करवा दी। इस प्रकार उसने पृथ्वीराज को नीचा दिखाना चाहा।

राजकुमारी संयोगिता राजा-महाराजाओं के सामने से चलती हुई द्वार पर पहुंची और वहीं उसने मूर्ति के गले में जयमाला डाल दी। पृथ्वीराज अपने कुछ साथियों के साथ वेश बदल कर पहले से ही वहां पहुंचे हुए थे। वह संयोगिता को अपने घोड़े पर बिठा कर दिल्ली आ गए और उन्होंने संयोगिता से धार्मिक रीति से विवाह कर लिया।

पृथ्वीराज के द्वारा संयोगिता का हरण होने से जयचन्द और उनमें दुश्मनी बहुत बढ़ गई। जयचन्द में इतनी शक्ति न थी कि वह पृथ्वीराज से बदला ले पाता, लेकिन वह अपमान को न सह सका। उसने विदेशी शासक शहाबुद्दीन गौरी को उकसाया कि वह फिर से पृथ्वीराज पर हमला करे। वह उसकी पूरी मदद करेगा। गौरी कई बार हार चुका था, लेकिन जब उसे जयचन्द ने मदद देने का वायदा किया तब वह एक बड़ी फौज लेकर चढ़ आया। दिल्ली से काफी दूरी पर तराइन के मैदान में पृथ्वीराज ने उसका सामना किया किन्तु इस बार पासा पलट गया। पृथ्वीराज की हार हुई। वह पकड़ लिया गया। उसकी आंखें निकाल दी गईं और गौरी उसे अपने साथ ले गया।

पृथ्वीराज धनुष-बाण चलाने में बहुत ही कुशल थे। कहते हैं कि उन्हें शब्द-वेधी बाण चलाने का पूर्ण अभ्यास था।

पृथ्वीराज जहां बहुत बड़े योद्धा थे वहां साहित्य और कला के प्रेमी भी थे। उनके दरबार में कवि और साहित्यकार रहते थे। चन्द बरदायी ऐसा ही कवि था जिसने 'पृथ्वीराज रासो' लिखा है। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज के संबंध में पूरी जानकारी है।

जब पृथ्वीराज कैदी के रूप में रह रहे थे तब चन्द बरदाई वहां पहुंचा। उसने बादशाह से पृथ्वीराज की शब्द-वेधी बाण चलाने की कला की चर्चा की। बादशाह ने देखना

चाहा कि चन्द बरदाई के कथन में कहां तक सचाई है। उसने भरे दरबार में पृथ्वीराज को कला की परीक्षा लेनी चाही। बादशाह स्वयं सभा मंडल में एक बहुत ऊंचे स्थान पर ग्रासीन हो गया ग्रौर ग्रपने ठीक नीचे उसने ग्रावाज किए जाने की व्यवस्था की जिसको लक्ष्य बनाकर पृथ्वीराज को बाण चलाना था। जैसे ही लक्ष्य स्थल पर ध्वनि की गई वैसे ही चन्द बरदाई ने ऊपर वाला दोहा पढ़ा। ध्वनि के स्थल को ध्यान में रख कर ग्रौर दोहे में बताई गई ऊंचाई पर निशाना साधते हुए पृथ्वीराज ने बाण छोड़ा। निशाना चन्द बरदाई द्वारा बताए गये लक्ष्य पर ग्रचूक बैठा और सुलतान के प्राण पखेरू उड़ गए। कहते हैं कि फिर पृथ्वीराज ग्रौर चन्द बरदाई एक-दूसरे को मार कर मर गए।

महाराणा प्रताप



छज्जूभगत ने दर्शकों की उत्कंठा को देखा और कहना शुरू किया कि जब एक-एक करके राजपूताने के शासक मुगलों की अधीनता स्वीकार करते जा रहे थे तब अकेला मेवाड़ ही ऐसा बचा था जो अपनी आजादी को बनाए हुए था। किन्तु मेवाड़ की आजादी की रक्षा के लिए उसके शासकों को बहुत बड़ी कुर्बानियां देनी पड़ीं। बप्पा रावल, संग्रामसिंह और उदयसिंह सभी ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा की, लेकिन महाराणा प्रताप ने जो कुछ कर दिखाया वह राष्ट्रप्रेम और आत्म बलिदान के इतिहास में अद्वितीय था और सदा याद किया जाता रहेगा।

सन 1572 में महाराणा प्रताप मेवाड़ के शासक बने। उनके पास न तो पुरानी राजधानी थी और न ही इतना धन था कि वह बहुत बड़ी सेना तैयार कर सकते। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुगल सम्राट अकबर आसीन थे। अकबर ने प्रताप को कई पत्र लिखे कि वह फतहपुर सीकरी आकर उनसे मिले। अकबर ने यह भी आश्वासन दिलाया कि इससे प्रताप की शान-शौकत में कोई बट्टा नहीं लगेगा। इस पर महाराणा ने साफ शब्दों में कहला भेजा कि बप्पा रावल का वंशज मुगलों के सामने सिर नहीं झुका सकता।

महाराणा प्रताप जानते थे कि उनके इस उत्तर का परिणाम क्या होगा। वह जानते थे कि अकबर इसे अपने लिए एक खुली चुनौती मानेगा जिसका मतलब होगा उस समय के सबसे शक्तिशाली सम्राट के साथ आजीवन संग्राम! इसलिए महाराणा प्रताप ने अपने सरदारों को बुलाया और कहा कि जब तक मेवाड़ के किले न जीत लिए जाएं मेवाड़ वासी सोने-चांदी के बरतनों में भोजन न करें तथा भूमि पर और कुटियों में सोएं। कोई भी

राजपूत मूंछ दाढ़ी न बनवाए। इस बात का स्वयं प्रताप ने पूरा पालन किया और अकबर से लड़ने की तैयारी पूरी होने लगी।

उधर अकबर ने भी जीतने का फैसला किया। आमेर, जिसे आजकल जयपुर कहा जाता है, के राजा मानसिंह अकबर के दरबार में उच्च पद पर थे। उन्होंने राणा प्रताप को इस बात के लिए राजी करना चाहा कि वह अकबर से मैत्री कर लें। राजा मानसिंह उदयपुर गए। महाराणा ने उनका स्वागत किया, किन्तु उनके साथ भोजन करने न आए और सिर में पीड़ा होने का बहाना कर दिया। मानसिंह राणा प्रताप का आशय समझ गए और बिना खाए वहां से चल पड़े। चलते समय वह कह गए—इसका परिणाम मेवाड़ के लिए अच्छा न होगा।

इस पर राणा प्रताप के एक सरदार ने कहा—जब दुबारा आना तो अपने फूफा अकबर को भी साथ लाना।

इसके बाद कटुता और बढ़ी। अकबर और राणा प्रताप की सेनाओं के बीच कई लड़ाइयां हुईं। हालांकि महाराणा प्रताप की सेना संख्या में कम थी और उनके पास तोप आदि भी नहीं थीं, फिर भी राजपूतों ने अपूर्व साहस का परिचय दिया। उधर अकबर चाहता था कि महाराणा प्रताप की शक्ति को समाप्त कर दिया जाए। हल्दी घाटी के मैदान में दोनों की सेनाओं का डट कर मुकाबला हुआ। इस लड़ाई में राजपूतों ने बता दिया कि वे मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर सकते हैं। इसी लड़ाई में मन्ना-झाला ने राणा प्रताप के सिर से राज चिह्न अपने सिर पर धारण कर राणा प्रताप को संकट से बचा लिया।

राणा प्रताप घायल हो चुके थे। वह चेतक पर सवार हो अपने पड़ाव की ओर चले। रास्ते में ही चेतक दम तोड़ गया, जिसका महाराणा प्रताप को बहुत दुख हुआ।

शक्तिसिंह महाराणा प्रताप का छोटा भाई था। लेकिन किसी बात पर दोनों भाइयों में अनबन हो गई। इस पर शक्तिसिंह ने अकबर की सेना में नौकरी कर ली। हल्दी घाटी की लड़ाई में वह भी गया था। जब महाराणा प्रताप घायल होकर युद्ध भूमि से जा रहे थे तब वह उनके पीछे-पीछे चला और उसने उन दो मुगल सिपाहियों को मार गिराया जो महाराणा का पीछा कर रहे थे। किन्तु महाराणा प्रताप ने सोचा कि शक्तिसिंह उनसे बदला लेने के लिए आ रहा है। उन्होंने तलवार खींच ली। इस पर शक्तिसिंह उनके पैरों

पर गिर कर फूट-फूट कर रोने लगा। महाराणा का हृदय भी पिघल आया। शक्तिसिंह ने उन्हें अपना घोड़ा दिया और जल्दी से चले जाने के लिए कहा।

हल्दी घाटी की लड़ाई ने महाराणा प्रताप पर मुसीबत के पहाड़ ढा दिए। उनके कई किलों पर मुगलों ने कब्जा कर लिया। लेकिन महाराणा ने साहस नहीं खोया। फिर भी एक घटना ऐसी घटी जिसने महाराणा प्रताप जैसे अडिग व्यक्ति को भी विचलित कर दिया। बात यह हुई कि महारानी ने बच्चों को खिलाने के लिए घास के बीज की जो रोटी बनाई थी उसी को जब छोटी बच्ची खा रही थी तो एक बन बिलाव छीन कर भाग गया। राजकुमारी बड़े जोर से रोने लगी।

मेवाड़ के शासक की कन्या घास की रोटी के लिए विलाप करे, यह महाराणा प्रताप से न देखा गया। वह अधीर हो उठे। उन्होंने अकबर से सन्धि करने की चर्चा चलाई। इस बात का पता जब अकबर को लगा तो उसने अपने दरबार में इस पर खुशियां मनाईं। लेकिन तभी अकबर के एक दरबारी राजा पृथ्वीराज ने भरी सभा में कहा कि महाराणा प्रताप दिल्ली पति की अधीनता कभी स्वीकार नहीं कर सकते। उधर महाराणा प्रताप को उसने एक पत्र लिखा जिसका मतलब था कि आपके कारण ही मेवाड़ और हिंदू जाति का गौरव है। यदि आप डिग गए तो मेवाड़ का सूर्य सदा सदा के लिए अस्त हो जाएगा। पत्र पाकर महाराणा प्रताप ने संधि करने का विचार छोड़ दिया और फिर से लोहा लेने की तैयारी करने लगे। भामाशाह ने उन्हें बहुत सारी सम्पत्ति दी। फिर से सेना तैयार हुई। राजपूतों ने सौगन्ध खाई कि वे आजीवन घुटने नहीं टेकेंगे। थोड़े ही समय में उन्होंने चित्तौड़, अजमेर तथा मण्डलगढ़ किलों को छोड़कर सारा मेवाड़ मुगलों के हाथ से छीन लिया। अकबर इन दिनों अपने घरेलू झगड़ों में पड़ गया था इसलिए उसे उदयपुर पर हमला करने का साहस न हुआ। चित्तौड़ का दुर्ग मुगलों के पास ही था इसलिए महाराणा प्रताप अक्सर कहा करते थे कि जब तक चित्तौड़ पर कब्जा नहीं होता तब तक प्रताप का स्वप्न अधूरा है।

निरंतर संघर्ष और कष्टमय जीवन बिताने के कारण महाराणा प्रताप का स्वास्थ्य खराब रहने लगा और एक दिन ऐसा आया जब उनके प्राण पखेरू उड़ गए। महाराणा प्रताप की मृत्यु के बाद उनके सभी सरदारों ने पुनः प्रतिज्ञा की कि जीवित रहते मातृभूमि की स्वाधीनता पर आंच न आने देंगे।



अजीमुल्ला खां

बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो यह जानते हों कि 1857 की भारत की स्वाधीनता की लड़ाई की योजना बनाने में और विदेशों में जाकर उसके लिए उद्योग करने में एक ऐसे मुस्लिम परिवार के बालक का भी महत्वपूर्ण हाथ था जिसने अपना जीवन अंग्रेजों की निम्नकोटि की सेवा से प्रारम्भ किया था। निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण अजीमुल्ला खां के जन्म के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है।

कहते हैं निर्धनता के कारण बचपन में वह शिक्षा प्राप्त न कर सका। छोटी उम्र में ही उसे जीविकोपार्जन के लिए कानपुर में एक अंग्रेज साहब के घर में खानसामा की नौकरी करनी पड़ी। किन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत के अनुसार उस महत्वाकांक्षी बालक का भविष्य अति उज्जवल था। उसने साहब की नौकरी में पढ़ना-लिखना सीखा और विदेशी भाषाओं के ज्ञान के लिए उसने उसी साहब के यहां बावर्ची का काम अंगीकार किया। थोड़े समय में ही उसने हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाएं अच्छी तरह सीख लीं।

अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाएं सीख लेने पर अजीमुल्ला खां ने फिरंगी की नौकरी छोड़ दी और कानपुर में एक स्कूल में नियमित अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। शिक्षा प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति से देवी सरस्वती प्रसन्न हुई। कुशाग्र बुद्धि अजीमुल्ला खां ने अध्ययन के बाद अपना स्कूल खोल दिया। आगे चल कर जब वह सरकारी स्कूल में अध्यापक का कार्य कर रहा था तो उसकी योग्यता की खबर नाना साहब के ब्रह्मावर्त दरबार तक जा पहुंची। नाना साहब ने ऐसे योग्य विद्वान को अपने दरबार में

बुला लिया। उसके सत्परामर्श से नाना साहब और उनके साथी बड़े प्रभावित हुए। नाना साहब ऐसा कोई कार्य न करते जिसकी राय अजीमुल्ला खां ने न दी होती।

सन 1854 में नाना साहब के मुख्य प्रतिनिधि के रूप में वह उनका मामला प्रस्तुत करने के लिए ब्रिटेन गया। एक अंग्रेज लेखक ने अजीमुल्ला खां के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है : "उनका मुख भद्र, उनकी जबान मीठी और रसीली थी।" अंग्रेज के यहां नौकरी करने के कारण वह अंग्रेजों के रीति-रिवाजों से भली भांति परिचित था, अतः लन्दन में वह सुप्रसिद्ध हो गया। भारतीय पोशाक में अजीमुल्ला खां जिधर निकल जाते भीड़ इकट्ठी हो जाती। उनके भारत लौटने पर कई सम्भ्रान्त परिवार की स्त्रियों ने उन्हें स्नेहपूर्वक पत्र भेजे जो ब्रह्मावर्त में अंग्रेजों का अधिकार हो जाने पर हैवलाक के हाथ पड़ गए।

अजीमुल्ला खां ने एक प्रतिनिधि की हैसियत से जो कुछ करना चाहिए था किया किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी ने दो टूक उत्तर दे दिया कि वह कुछ नहीं कर सकती, गवर्नर-जनरल ने जो निर्णय किया है वह उचित है। बाजीराव के दत्तक पुत्र को अपने पिता की पेंशन पर कोई अधिकार नहीं।

वास्तव में पेशवा बाजीराव द्वितीय की 1851 में मृत्यु हो गई। उनको आठ लाख रुपये पेंशन मिलती थी। उसमें से उन्होंने अधिकांश बचा ली और इस बचत को कम्पनी में लगा दिया। जब अंग्रेजों का अफगानिस्तान से युद्ध हुआ तो उसमें भी उन्होंने पचास लाख रुपया सहायतार्थ दिया। जब अंग्रेजों की सिखों से लड़ाई हुई तो आम विचार यह था कि मरहठे सिखों की सहायता करेंगे किन्तु ऐसा नहीं हुआ। पेशवा बाजीराव ने एक हजार की सेना भेजकर अंग्रेजों की सहायता की। ऐसे अंग्रेज-मित्र पेशवा ने अपनी मृत्यु से पूर्व एक वसीयत लिखी जिसमें उन्होंने दत्तक पुत्र नाना को अपनी समस्त सम्पत्ति और अधिकारों का उत्तराधिकारी बनाया। किन्तु आश्चर्य उस समय हुआ जब पेशवा की मृत्यु होते ही ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी कि नाना साहब आठ लाख रुपये पेंशन पाने के अधिकारी नहीं हैं। अजीमुल्ला खां ने इस प्रश्न पर विचार किया और कहा—"यह नितांत अनुचित है कि पेशवा जैसे बड़े घराने के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाए। जब श्रीमंत बाजीराव ने अपनी गद्दी और राज्य कम्पनी को सौंपे तो यह इस शर्त पर कि कम्पनी बदले में आठ लाख रुपया वार्षिक दिया करेगी। जब अंग्रेज सरकार की ओर से पेंशन सदैव नहीं दी जाएगी तो वह राज्य जो इस रुपए के बदले में दिया गया था हमेशा

के लिए अंग्रेजों के हाथ में कैसे रहेगा ? दो पक्षों के बीच हुए समझौते को एक पक्ष तो माने और दूसरा सुविधानुसार उसे तोड़ दे यह कैसे हो सकता है ?

नाना साहब की ओर से भेजे गए पत्र में यह भी लिखा था—"कम्पनी ने पेंशन न देने का एक बहाना और किया है। उसने कहा है कि बाजीराव द्वितीय ने काफी रुपया जमा कर लिया था जिससे उनके परिवार का खर्च आसानी से चल सकता है। किन्तु कम्पनी यह भूल जाती है कि पेंशन जिन शर्तों पर दी गई थी उसमें यह कहीं नहीं लिखा गया कि पेंशन प्राप्तकर्त्ता उसे किस प्रकार व्यय करेगा। पेंशन तो राज्य देने के मूल्य में दी गई थी और यदि बाजीराव अपनी कुल पेंशन ही बचा लेते तो भी कोई बात न थी। हम कम्पनी से यह पूछना चाहते हैं कि क्या उसे यह पूछने का कोई अधिकार है कि पेंशन किस प्रकार व्यय की जाए ? कम्पनी तो अपने अदना नौकरों से भी यह नहीं पूछती कि वे अपनी पेंशन किस प्रकार व्यय करते हैं और क्या बचाते हैं ? तब आश्चर्य लगता है कि एक शाही परिवार से इस प्रकार की बात कही जाती है। और इसी बहाने कम्पनी सन्धि भंग करने पर उतारू है।

इस मसविदे से अजीमुल्ला खां की योग्यता का पता चलता है। यद्यपि उनकी विदेश यात्रा सफल न हो सकी तथापि लंदन में सतारा के रंघो बापू जी उनसे मिलने के लिए आने-जाने लगे। ये दोनों व्यक्ति— एक सतारा के छत्रपति का प्रतिनिधि और दूसरा छत्रपति के प्रधानमन्त्री का प्रतिनिधि—नाना साहब के सन्दर्भ में भारत को स्वतन्त्र कराने पर विचार करने लगे।

भारत में 1857 में जो कुछ हुआ उसकी योजना बनाने में अजीमुल्ला खां का हाथ और मस्तिष्क था। यदि योजनानुसार सैनिक विद्रोह 31 मई को प्रारम्भ हुआ होता तो आज भारत का इतिहास ही कुछ और होता और अजीमुल्ला खां का नाम भी भुलाया नहीं गया होता।

अजीमुल्ला खां भारत के उन सपूतों में से हैं जिन्होंने तन, मन और धन से देश को स्वतन्त्र कराने का सत्प्रयत्न किया।



लक्ष्मीबाई

चिम्मनजी अप्पा पेशवा के साथ जो लोग उस समय बनारस में रह रहे थे उनमें एक थे श्री मोरोपंत ताम्बे और उनकी सहधर्मिणी भागीरथीबाई। कौन जानता था कि भागीरथीबाई की कोख से जन्म लेने वाली छोटी सी कन्या मनु भारत के इतिहास की महारानी लक्ष्मीबाई के नाम से सुप्रसिद्ध वीरांगना बन जाएगी। बनारस में 1835 में मनु का जन्म हुआ। किन्तु जब मनु तीन-चार वर्ष की हुई तो उसका परिवार ब्रह्मावर्त में बाजीराव के दरबार में चला गया, जहां मनु से ग्यारह वर्ष बड़े नाना साहब के साथ खेलने का उसे सुयोग प्राप्त हो गया।

मनु सबको प्रिय थी इसलिए लोग उसे 'छबीलो' कहकर सम्बोधित करते थे। अल्पायु में ही उसने तलवार चलाने और घुड़सवारी करने आदि का अभ्यास कर लिया। जब पेशवा नाना साहब और उनके चचेरे भाई राव साहब को उनके अध्यापक पढ़ाते थे तो छबीली पास ही बैठी हृदयंगम करती थी। इस प्रकार बचपन से ही उसकी शिक्षा दीक्षा ऐसी हुई जो भविष्य में बडी लाभकारी सिद्ध हुई।

जब छबीली आठ-नौ वर्ष की ही थी, उसका पाणिग्रहण झांसी के महाराजा गंगाधर राव के साथ हो गया और तभी वह हठीली मनु महारानी लक्ष्मीबाई बनी। उसका दाम्पत्य जीवन बहुत सुखी रहा। किन्तु दैव को कुछ और ही करना था। सन 1853 में गंगाधर राव की मृत्यु हो गई। महारानी को कुल 18 वर्ष की आयु में शासन का समस्त भार उठाने को बाध्य होना पड़ा। पति की मृत्यु के बाद ही महारानी ने दामोदर राव को गोद ले लिया। किन्तु उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी का गवर्नर

जनरल डलहौजी था जिसकी राज्यों को ज त करने की नीति जोरों से चल रही थी। अतः अंग्रेजों ने दामोदरराव को झांसी का उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया और राज्य पर अधिकार कर लेने का फैसला कर लिया। किन्तु झांसी में उस समय नाना की मुंह बोली बहन छबीली राज्य कर रही थी। झांसी पर अधिकार कर लेना हंसी खेल न था।

अंग्रेजों के व्यवहार से असंतुष्ट देश में स्वतन्त्रता की लहर चल रही थी। धीरे-धीरे यहां के अंग्रेज भी उसका अनुभव करने लगे थे। छिपे-छिपे फिरंगियों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए चारों ओर तैयारियां हो रही थीं। मुगल बादशाह का राज्य होते हुए भी सेना के बलबूते पर अंग्रेज राज कर रहे थे। किसी को साहस न होता था कि वह खुले आम कुछ कहे, किन्तु दिलों में नश्तर चुभे हुए थे। विशेषकर डलहौजी के जब्ती सिद्धान्त से विभिन्न राजा-महाराजा भी असंतुष्ट थे। अतः यह निश्चय किया गया कि 31 मई, 1857 को देश भर की छावनियों में विद्रोह किया जाए। पर मेरठ में सैनिकों में स्वाधीन होने का अदम्य उत्साह रोके न रुका। वहां पर 10 मई को रविवार के दिन जब कि बड़े अंग्रेज अफसर गिरजाघर आए हुए थे, विद्रोह हो गया। विद्रोह धीरे-धीरे दिल्ली की ओर बढ़ा और जून मास में यह दशा हो गई कि पंजाब से लेकर बंगाल तक समस्त उत्तर भारत में सैनिक विद्रोह फैल गया। उसे खाली सिपाहियों का गदर कहना नितान्त भूल होगी। वह स्वतन्त्रता का संग्राम था जो किसी योजना के आधार पर हुआ था।

दिल्ली के मुगल सम्राट बहादुरशाह ने एक पत्र भारत के राजा-महाराजाओं के नाम लिखा जिसमें फिरंगियों से मुक्त होने का आह्वान किया गया और प्रमुख नरेशों को भारत के शासन की बागडोर संभालने के लिए आमन्त्रण दिया गया था।

उन दिनों नाना साहब के नेतृत्व में 4 जून को कानपुर में अंग्रेजों से सत्ता हथियाने के लिए विद्रोह हो गया। उसी दिन नाना की बहन लक्ष्मीबाई की झांसी में भी विद्रोह की आग भड़क उठी। झांसी के ब्रिटिश कमिश्नर के हाथ कुछ ऐसे कागज पड़ गए जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि रानी का एक ब्राह्मण लक्ष्मणराव विद्रोह की योजना बना रहा था। अंग्रेज अभी सोच ही रहे थे कि क्या किया जाए कि इतने में क्रान्तिकारियों ने किले पर अधिकार कर लिया। इसे देखकर अंग्रेज नगर के किले में शरणागत हो गए। 7 जून को झांसी के किले पर क्रान्तिकारियों का झण्डा फहरा दिया गया। उधर अंग्रेजों ने सफेद झंडा सुलह की आकांक्षा से लगाया।

8 जून को झांसी के रिसालदार कालेखां ने आदेश दिया कि फिरंगियों ने महारानी लक्ष्मीबाई को गद्दी से गलत तरीके से हटाया है; क्योंकि दामोदरराव बालक

है अतः रानी उसकी संरक्षिका की हैसियत से झांसी की शासिका रहेंगी । घोषणा की गई—"संसार परमेश्वर का है, देश सम्राट का है, और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई हैं ।"

अब रानी ने राज्य की व्यवस्था की ओर ध्यान देना शुरु किया । रानी का दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार था : प्रातः पांच बजे उठकर वह स्नान करतीं और स्वच्छ सफेद चंदेरी साड़ी पहन कर पूजा करतीं । सबसे पहले वह पति की मृत्यु के बाद भी केश रखने के लिए प्रायश्चितस्वरूप जल छिड़कतीं और तब तुलसी का पूजन होता । फिर दरबारी संगीतज्ञ भजन गाते और पार्थिव पूजा की जाती । तदनन्तर पुराणिक लोग पुराण पढ़कर सुनाते । तब सरकारी तथा अन्य राज्य कर्मचारी आते और वह उनके अभिवादन स्वीकार करतीं । स्मरणशक्ति उनकी इतनी तीव्र थी कि 750 व्यक्तियों मे से जो भी न आता अगले दिन प्रातः वह उसकी अनुपस्थिति का कारण पूछना न भूलतीं ।

इसके बाद भोजन होता था । यदि कोई आवश्यक कार्य न होता था तो रानी एक घंटे विश्राम करतीं । प्रातःकाल की भेंट में आई वस्तुएं चांदी के थालों में रखकर उनके सामने पेश की जातीं । जो कुछ वह स्वीकार करतीं रख ली जातीं, शेष कोठारी को वितरित करने के लिए भेज दी जातीं । तीन बजे वह दरबार में जातीं । उस समय वह पुरुष की पोशाक पहनती थीं । पाजामा, गहरे नीले रंग का कोट, सिर पर टोपी जिस पर एक सुन्दर पगड़ी बंधी होती थी । कमर मे जरी के काम का दुपट्टा बंधा होता और उसमें एक तलवार लटकती रहती । इन परिधानों से सुसज्जित वह साक्षात गौरी का अवतार दिखाई देती थीं। कभी-कभी वह स्त्रियों की पोशाक भी पहन लेती थीं। वैधव्य को प्राप्त होने के बाद उन्होंने नथ आदि का परित्याग कर दिया था। हाथों में हीरे की चूड़ियां, ग्रीवा में मुक्तामाला और कनिष्ठ उंगली में हीरे की एक मुद्रिका ही पहनती थीं। केश उनके पीछे गुथे रहते । सामान्यतः सफेद रंग की साड़ी और पोलका पहनना उन्हें पसन्द था ।

वह दरबार के निकट एक कक्ष में बैठतीं और दरबारी उनके दर्शन प्रायः नहीं कर पाते थे। सोने के काम की चिकें पड़ी रहती थीं और वह नरम गाव-तकियों पर बैठती थीं । लोग उन्हें बाई साहब कहते थे । द्वार के बाहर दो द्वारपाल चुस्त पोशाकों में रहते थे । कक्ष के सामने लक्ष्मणराव दीवानजी राज्य के आवश्यक कागज पत्र लिए खड़े होते और उनके पीछे बाई साहब हर मसले पर अविलम्ब निर्णय दे देती थीं । शायद ही कभी ऐसा अवसर आया हो जब उनका निर्णय उचित न रहा हो । कभी-कभी आदेश वह स्वयं अपने आप भी लिख देती थीं । उनके न्याय की प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी।

रानी महालक्ष्मी की भक्त थीं। महालक्ष्मी का मन्दिर झील के तट पर बना था जहां वह हर मंगलवार और शुक्रवार को पूजन के लिए जाया करती थीं। एक दिन जब रानी मन्दिर के दक्षिण द्वार से पूजा के बाद लौट रही थीं उन्होंने वहां पर भिखारियों की भीड़ देखी। इससे उन्हें बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने लक्ष्मणराव पांडे से मामले की जांच करने को कहा। ज्ञात हुआ कि पर्याप्त कपड़े के अभाव में वे ठिठुरे जा रहे हैं और बाई साहब से अपने पर कुछ कृपा के अभिलाषी हैं। रानी ने यह दुखदायी कथा सुनकर आदेश दिया कि सब भिखारी चौथे दिन इकट्ठे हों और हर एक को मोटा कोट, टोपी और एक कम्बल दिया जाए। अगले ही दिन नगर के सभी दर्जियों को कोट और टोपी तैयार करने का आदेश दे दिया गया।

नियत दिन सभी भिखारी और गरीब लोग महल के सामने उपस्थित हुए। सबको कपड़े दे दिए गए और रानी की जय-जयकार करते हुए सभी संतुष्ट होकर चले गए।

युद्ध में आहत सैनिकों की जब मरहम पट्टी होती थी तो रानी स्वयं उपस्थित रहती थीं, और उनके वात्सल्य से सिपाही बड़ी जल्दी चंगे हो जाते थे, उन्होने मां का हृदय जो पाया था। जब वह अपने सैनिकों को पदक आदि पुरस्कार देती थीं तो उससे सैनिकों का उत्साह और भी बढ़ जाता था।

उत्सवों के अवसर पर जब वह पालकी में बैठकर महालक्ष्मी के मन्दिर जाने को निकलतीं तो वह एक दर्शनीय दृश्य होता था। घोड़े पर पुरुष वेश में उनकी छवि का वर्णन अंग्रेजों तक ने किया है। उनके आगे स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय झंडा होता और सैनिक धुन बजाता हुआ बैंड आगे आगे चलता। दो सौ यूरोपियन और एक सौ घुड़सवार झंडे के पीछे होते। पालकी अथवा उनके घोड़े के पीछे कारबारी, मन्त्री, जागीरदार तथा अन्य उच्च अफसर होते, जैसे भैया साहब उपसेनापति। इनके अलावा सैकड़ों-हजारों व्यक्ति पैदल अथवा घोड़ों पर चलते। कभी-कभी सैनिक भी जलूस में होते थे।

ऐसी रानी को फिरंगियों से जूझना पड़ा। झांसी के किले को अंग्रेजों ने घेर लिया। द्वार बन्द थे पर अंग्रेज बराबर किला जीतने की ताक में थे। उन्होंने नसेनियां लगाईं और कई बार असफल होने के बाद वे किले पर पहुंचने में सफल हो गए। किले की लूट शुरू हुई। धू-धू करके किले का रूप शमशान का सा हो रहा था। रानी धुएं में रंगी अब भग्न किले की दीवार पर खड़ी किले की ओर देख रही थीं। उनके सामने का वह वीभत्स दृश्य उनका हृदय मसोस रहा था, पर वह अकेली क्या करतीं। पर नहीं, अकेली लक्ष्मीबाई किसी से कम न थीं। आत्मसमर्पण करना वह जानती न थीं। रानी के विश्वस्त जन एक-

एक करके स्वर्ग सिधार चुके थे। गुलाम गोसखां और कुंअर खुदाबख्श शहीद हो चुके थे। पर रानी किला छोड़ने को तैयार न थीं। सरदारों ने कहा कि अब आप शत्रु शिविर में से निकल कर पेशवा की सेना में जा मिलिए और झांसी लेने का यत्न कीजिए। रानी ने कहा कि मैं अपने प्रजाजनों को इस संकट में छोड़कर नहीं जाऊंगी, यहीं मर जाना पसन्द करूंगी। पर फिर कुछ सोचकर उन्होंने कहा—"मरने से क्या डरना पर कहीं मेरे शरीर का अपमान शत्रु न करे ?" इस पर अनेक कंठों ने कहा कि जब तक हम जीवित हैं यह नहीं हो सकता।

रात हुई, रानी का विवेक जागा। अकेले अपने लिए इतने आदमियों को मरवा देना कहां की बुद्धिमानी होगी ? शीघ्र ही उन्होंने किले से चले जाने का निर्णय किया और अन्तिम बार अपने प्रजाजनों को आशीर्वाद दिया। पुरुष वेष में अपने दत्तकपुत्र दामोदरराव को पीठ पर बांधे वह चलीं मानो युद्ध की देवी भवानी पृथ्वी पर उतर आई हो। बीस घुड़सवारों के साथ वह किले के उत्तरी द्वार से निकलीं तो टिहरी राज्य के देशद्रोही सैनिकों ने पूछा—"कौन ?" पर इतनी देर में ये बीस-पच्चीस घोड़े शत्रु के शिविर के बीच में पहुंच चुके थे। उन्हें रोक लिया गया और युद्ध शुरू हो गया। उसी बीच रानी घोड़े को उड़ा ले चलीं। घायल मोरोपन्त ताम्बे ने उनका दतिया तक साथ दिया किन्तु देशद्रोही दीवान ने उन्हें पकड़ कर अंग्रेजों को दे दिया और उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया गया।

आगे-आगे घोड़े पर रानी वायुवेग से जा रही थीं तो उनके पीछे लेफ्टिनेंट बोकर दौड़ रहा था। रात भर दौड़ हुई और रानी आगे ही रही। प्रभात होने को हुआ कि मंडरेगांव के निकट रानी जा पहुंची। वहां कुछ देर उन्होंने विश्राम किया, कुछ जलपान किया, पर यह क्या, पीछे धूल के बादल दीखने लगे। रानी कालपी की सड़क पर फिर बढ़ीं। अंग्रेज निकट आ गए। वहां फिर रानी के दस पंद्रह थके मांदे और घायल साथियों की उनसे मुठभेड़ हुई।

सुबह से दोपहर और दोपहर से शाम हो आई पर रानी की यात्रा जारी रही। तारे चमक निकले पर रानी ने घोड़ा न रोका। मध्य रात्रि तक 102 मील चलकर रानी कालपी पहुंच गईं। वहां पर श्री रावसाहब पेशवा से उन्होंने परामर्श किया और तय किया कि आजादी का युद्ध जारी रखा जाए।

ग्वालियर के जियाजीराव सिन्धिया और उनके मन्त्री दिनकरराव डर गए। उन्होंने कहकर भी रानी का साथ न दिया। पर रानी आजादी की दीवानी थीं। वह

फिर युद्ध में जूझीं और अपनी अन्तिम संगिनी मन्दार का शब्द उन्होंने सुना—"बाई साहब, मैं चली। मुझे आशीर्वाद दो।" रानी का घोड़ा गिर गया और वह भारी कलेजे और भारी पगों से आगे बढ़ीं। पर कई अंग्रेज उनका पीछा कर रहे थे। तलवारें चलीं। अकेली रानी रणचणडी के रूप में उन पर बरस पड़ीं। पर अकेला चना क्या भाड़ फोड़ता, एक फिरंगी की तलवार उनके मस्तक पर लगी। उनके मस्तक का सीधा भाग कट गया और सीधी आंख भी निकल पड़ी। तभी एक और वार भी हो गया। पर मृतप्राय होते हुए भी रानी की तलवार ने उस अंग्रेज को मार गिराया।

अब अन्तिम समय आ पहुंचा। अति स्वामिभक्त सेवक रामचन्द्र राव देशमुख पास ही था। उसने रानी को उठाया और पास की झोंपड़ी में रख दिया। झोंपड़ी में गंगादास बाबा ने उन्हें अंतिम बार शीतल जल पिलाया। खून से लथपथ वह भूमि की शैया पर पड़ी अन्तिम सांसें ले रही थीं। मरने से पूर्व उन्होंने केवल इतना कहा—"मेरे शरीर को फिरंगियों के हाथ में न पड़ने देना।"

सितारा अस्त हो गया। तभी जंगल में तिनकों की सेज सजाई गई जिस पर भारत वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई का अन्तिम संस्कार हुआ और धू-धू कर अग्नि जल उठी।

राणा हुआ मरदाना



मियां नजीर को 1857 में हुई आजादो की पहली लड़ाई के किस्से इस तरह याद हैं मानों वह खुद ही उस समय मौजूद रहे हों। उन्हें जरा छेड़ दीजिए, बस वह शुरू हो जाएंगे।

एक शाम जब विजयघाट पर उनसे भेंट हुई तब उन्होंने कहना शुरू किया—'बाबू, वह भी एक जमाना था जब इस देश का, खासकर उत्तर भारत का बच्चा-बच्चा अंग्रेजों को देश से निकालने के लिए बेताब था। दिल्ली, मेरठ, कानपुर, झांसी, लखनऊ के अलावा दूर-दूर के छोटे-छोटे राजा और नवाब भी पूरी तरह कोशिश कर रहे थे। उन्हीं में एक देवीबख्शसिंह भी थे।

राजा देवीबख्शसिंह गोंडा के राजा थे और अपने समय में अवध सल्तनत के एक स्तंभ समझे जाते थे। जब से अंग्रेजों ने चालाकी से लखनऊ पर अपना दखल जमाया और नवाब वाजिदअली शाह को अपनी कठपुतली बना लिया, तभी से राजा देवीबख्शसिंह अंग्रेजों के कट्टर शत्रु बन गए।

हालांकि आजादी की लड़ाई का बिगुल 10 मई, 1857 को ही बज चुका था किन्तु गोंडा में क्रांति 9 जून के आसपास हुई। सारे जिले में हलचल मच गई। सभी ताल्लुकेदार अपनी-अपनी ताकत मजबूत करने लगे। ऐसे अवसर पर राजा देवीबख्शसिंह कब चूकने वाले थे। वह आजादी के दीवानों के नेता बन गए।

अंग्रेजों को इस बात का पता चला कि राजा तलवार चलाने में बड़ा माहिर है। बहुत कम लोग उसकी बराबरी कर पाते हैं।

मियां नजीर ने पान की गिलौरी मुंह में रखते हुए कहा—'बाबू, हालांकि तवारीख लिखनेवाले लिखते हैं कि 1857 की लड़ाई सिर्फ उन लोगों की तरफ से की गई थी जिनमें कुछ कारणों से गलतफहमी पैदा हो गई थी, लेकिन यह बात राजा देवीबख्शसिंह पर खरी नहीं उतरती।

उन्हें अंग्रेज अपना दोस्त बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने राजा देवीबख्शसिंह के पास अपना संदेश भी भेजा था। वह उन्हें गोंडा इलाके का राजा मानने को तैयार थे। किन्तु राजा देवीबख्शसिंह के शरीर में क्षत्रीय का खून था। वह आजादी के दीवाने थे। वह यह हरगिज पसन्द नहीं करते थे कि अंग्रेज हिन्दुस्तान की धरती पर बने रहें और वह उन्हें झुककर सलाम करें।

अंग्रेजों ने मेरठ, दिल्ली, झांसी, कानपुर की आग तो ठंडी कर ली थी। उनके लिए छोटे-से जागीरदार को खत्म करना कुछ मुश्किल न था। लेकिन वे ऐसा न कर पाए। वे राजा देवीबख्शसिंह को धोखे से गिरफ्तार करके जेल में डालना और फिर डरा-धमका-कर दोस्त बनाना चाहते थे। उन्हें इस बात का भी पता था कि राजा देवीबख्शसिंह जल्दी से उनके जाल में फंसने वाला नहीं। अंग्रेज शासकों ने कई तरह से डोरे डाले, लालच दिए, किन्तु वह वीर उनके फंदे में न फंसा। तब जानते हो अंग्रेज हुकमरानों ने क्या किया ?

बहराइच के कमिश्नर ने एक पत्र लिखकर राजा देवीबख्शसिंह के पास भेजा। उसमें लिखा—"सुनते हैं आप तलवार चलाने और घुड़सवारी करने में अपना सानी नहीं रखते। मैं चाहता हूं कि आप हमारे अंग्रेज सिपाहियों के साथ तलवारबाजी के हाथ दिखाएं। अगर आप एक घंटे तक उनके सामने टिक सके तो आपका सारा कसूर माफ कर दिया जाएगा। आपका किला तथा आपका इलाका भी लौटा दिया जाएगा।"

राजा देवीबख्शसिंह जानते थे कि यह अंग्रेजों की चाल है, फिर भी उन्होंने सन्देश भेजा—"मैं भी बहुत दिनों से चाहता हूं कि अंग्रेज सिपाहियों से दो-दो हाथ करूं। सुन रखा है कि अंग्रेज भी तलवार के धनी होते हैं लेकिन कभी मौका नहीं लगा। आपने याद किया है, उसके लिए मैं खुश हूं और अपने साथियों के साथ जरूर शामिल हूंगा, तलवार-बाजी देखने के लिए।"

उस पत्र में राजा देवीबख्शसिंह ने यह भी लिखा कि अगर कोई अंग्रेज तलवारबाजी में मुझे परास्त कर देगा तो मैं क्रांति का रास्ता छोड़कर देश से भाग जाऊंगा और अपना मुंह नहीं दिखाऊंगा।

कहते हैं कि राजा देवीबख्शसिंह गए। उनके पहुंचते ही हंगामा मच गया। उन्होंने बात की बात में छह अंग्रेज तलवारबाजों को मौत के घाट उतार दिया।

नजीर मियां ठंडी सांस लेते हुए बोले—बाबू, अंग्रेजों ने यहां भी चाल चली। फौज को हुक्म देकर घेरा डलवा दिया। कहां बहुत बड़ी फौज और कहां सौ-दो सौ आदमी। खूब घमासान लड़ाई हुई। महाराजा देवीबख्शसिंह जिधर बढ़ते उधर ही काई-सी फटती चली जाती। लेकिन वह कब तक बचते। आदमियों की संख्या कम होती गई। लेकिन राजा देवीबख्शसिंह ने हाथ से तलवार नहीं छोड़ी। उन्होंने आत्म-समर्पण नहीं किया। वह लड़ते रहे और लड़ते-लड़ते पता नहीं कहां चले गए।

कहा जाता है कि राजा देवीबख्शसिंह को किसी अंग्रेज अफसर की गोली लगी और वे ढेर हो गए। लेकिन कुछ लोग इसे सच नहीं मानते। उनका कहना है जब राजा देवीबख्शसिंह के साथी एक के बाद एक कम होते गए, तब सब्जा नामक घोड़े पर चढ़कर दोनों हाथों से तलवार चलाते हुए नेपाल की ओर चले गए। फिर पता नहीं लग सका कि उनका क्या हुआ। आज भी गोंडा जिले के लोग यह कहते सुने जाते हैं कि राजा ने अपने घोड़े से कहा :

"सब्जा, तेरे रंग को और रंग बदरंग,
अबकी बार बचाय लो इन भकुवन को संग।"

मियां नजीर ने फिर एक लम्बी सांस ली। कुछ देर चुप रहने के बाद वह बोले—बाबू, जब अपने लोग ही दुश्मन से मिल जाएं जब सफलता कैसे मिल सकती है ? राजा देवीबख्शसिंह के साथ भी ऐसा ही हुआ। उन्हें पता लगा कि जिन राजाओं को उन्होंने अपना दोस्त समझकर 'अपनी इज्जत' अपनी रानियों को शरण देने के लिए उनके पास भेजा था, उन्होंने ही दगा दी। उन्होंने रानियों को अंग्रेज शासकों के हवाले कर दिया, यह जानकर उस वीर का रहा-सहा साहस भी जाता रहा। ठीक भी है, 'जिन पे तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे,' तो फिर क्या होता ?

हुआ वही जो होना था। वह वीर था और आखिरी समय तक उसने वीरता निभाई। तभी तो अवध में गाया जाता है—'अवध में राणा हुआ मरदाना' यह कहकर मियां नजीर उठ खड़े हुए।

सजल आंखों से मियां नजीर ने अन्त में कहा—'लेकिन भाग्य अंग्रेजों के साथ था। तात्या अपने काम में पूरी तरह सफल न हो सका। किसी तरह अजीजन के कामों का पता गोरे अफसरों को लग गया। फिर क्या था। गोरों ने अजीजन के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया। संगीनों से छेद-छेदकर उसे घायल किया। तिल-तिलकर उसके प्राण लिए... ......और बाबू, जानते हो, अजीजन सब कुछ सहती गई, केवल देश के लिए। उसका यह काम इतिहास के पन्नों पर सोने के हरफों में लिखा हुआ है।'



देश-प्रेम का मंत्र

छज्जू भगत के चौबारे पर जब हम पहुंचे तब वह कुछ कागज-पत्र समेट रहे थे। हमें देखते ही बोले—बाबू आओ, बैठो। बातें सुनने के लिए ही आए हो न। तो लो, सुनो।

आज तुम्हें हम ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में बताएंगे जो देश के लिए पैदा हुआ और जिसने देश के लिए ही अपने जीवन का एक-एक क्षण लगा दिया। यदि वह महामानव अवतरित न हुआ होता तो देश उठकर खड़ा न होता, बल्कि मुंह के बल चल रहा होता। उसी महापुरुष ने पहली बार एक सबल नारा दिया—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' यह नारा आज तक लोगों की जबान पर है। वह महान पुरुष था बाल गंगाधर तिलक, जिसे उस समय के लोग भगवान तिलक कहते थे।'

छज्जू भगत लोकमान्य तिलक के जीवन की चर्चा करते हुए कहने लगे, 'बाबू, वह इन्सान नहीं बल्कि देवता थे। सन 1896-97 की बात है। देश में अकाल की हालत सुधरी नहीं थी कि प्लेग की बीमारी आ धमकी। यह बीमारी सबसे पहले बम्बई नगर से शुरू हुई और देखते-देखते दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में फैल गई। पूना में भी यह महामारी पहुंची। धनी-मानी कहे जाने वाले लोग शहर छोड़कर सुरक्षित स्थानों पर भागने लगे।

प्लेग के शिकार लोगों की तिलक ने भरपूर सहायता की। उस समय की नौकरशाही पुलिस और अंग्रेज अफसर प्लेग के चक्कर में मालामाल होने लगे। वे जब लोगों को घरों

से निकालते तब उनका माल हड़प कर जाते। इस स्थिति का पता जब लोकमान्य तिलक को चला तब उन्होंने सरकार के इस कदम का डटकर विरोध किया। उन्होंने एक सेवा सस्था का गठन किया और लोगों की खूब सेवा की। जिस बस्ती में वह पहुंच जाते, वहां लोग सुख की सांस लेते।

लोकमान्य के सिर पर समाज-सुधार और देश की ग्राजादी की धुन सवार थी। इसके अलावा उन्हें कुछ सूझता ही न था। वह ग्रपने भाषणों ग्रौर लेखों से भारतीय जनता को ग्राजादी का संघर्ष करने के लिए तैयार करने लगे। भला अंग्रेज सरकार कब बर्दाश्त करती कि कोई भारतीय यह कहे कि हिन्दुस्तान को ग्राजादी दे दो! उन्हीं दिनों बिहार के मुजफ्फरपुर शहर में बम फेंके जाने की एक घटना घटी। नौकरशाही ने उसे अपने लिए वरदान समझा। बस, फिर क्या था! 22 जून 1908 को लोकमान्य तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया।

लोकमान्य की गिरफ्तारी से देश में, विशेषकर महाराष्ट्र में हलचल पैदा हो गई। जगह-जगह विरोधी सभाएं हुईं ग्रौर लोगों ने कारोबार तक बन्द कर दिया। सरकार ने न्याय का नाटक रचा। जज के सामने मुकदमा पेश किया गया। गवाहियां ली गईं, जूरी की नियुक्ति की ग्रौर वह भी सिर्फ इसलिए कि भारतवासियों और दुनियां की आंखों में धूल झोंकी जा सके। लोकमान्य तिलक को सरकार ने छः साल के लिए देश निकाला ग्रौर एक हजार रुपये जुर्माने का दण्ड दिया।

तिलक माण्डले (बर्मा) जेल भेजे गए। माण्डले का मौसम ग्रपनी तेजी के लिए काफी प्रसिद्ध है। वहां सर्दियों में कड़ी सर्दी पड़ती है और गर्मियों में भयंकर गर्मी। शायद मौसम की गर्मी से लोकमान्य तिलक को परेशान करने के लिए ही सरकार ने उन्हें वहां भेजा था। लेकिन जिस तरह सोना ग्राग में तपकर और भी ग्रधिक चमकता है, उसी प्रकार लोकमान्य तिलक दुनिया के सामने चमके। उन्होंने माण्डले जेल में ही 'गीता रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा।

माण्डले जेल से छूटने के बाद लोकमान्य तिलक फिर से अपने काम में जुट गए। ग्रब वह सारे देश के नेता के रूप में पूजे जाने लगे। अंग्रेज सरकार यह नहीं चाहती थी, लेकिन उसका वश नहीं चलता था। उसने कूटनीति की चाल चली ग्रौर राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस दो भागों में बंट गई—एक गरम दल ग्रौर दूसरा नरम दल बन गया। लोकमान्य तिलक गरम दल के नेता माने जाते थे ग्रौर गोखले नरम दल के, बाद में गांधी जी भी नरम दल में ही चले गए।

लोकमान्य तिलक की आवाज में जादू था और कलम में अपूर्व शक्ति। उन्होंने अपने इन दोनों साधनों से देश को तैयार किया कि वह आजादी की मांग को बुलन्द करे। और एक समय ऐसा आया जब उन्होंने स्वयं अपने अनुयाइयों से गांधी जी का समर्थन करने के लिए कहा।

अमृतसर कांग्रेस में ऐसी सम्भावना थी कि दोनों नेताओं में टक्कर हो जाएगी। इस अवसर पर भी लोकमान्य ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए कहा—'मेरी शारीरिक ताकत अब कमजोर होती जा रही है'। यह जरूरी है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाए। वह व्यक्ति, जिसके हाथों में मुझे 'नेतृत्व संभालने की शक्ति मालूम देती है, गांधी ही है। देश की बागडोर उसी के हाथ में जाएगी और वह नाव को अवश्य ही पार लगाएगा, ऐसा मेरा विश्वास है।'

छज्जू भगत ने कहा—बाबू, कुशल नेता तो वही है जो समय को पहचाने और भविष्य की बात को जानते हुए अपना कार्य निर्धारित करे। लोकमान्य तिलक ऐसे ही नेताओं में से थे।

एक बार की बात है, लोकमान्य तिलक के परिचित एक अंग्रेज ने व्यंग्य करते हुए कहा—'मिस्टर तिलक ! अगर हिन्दुस्तान आजाद हो जाए तो तुम क्या बनोगे—गवर्नर-जनरल या प्रधान मन्त्री ?'

बाबू, लोकमान्य ने जो जवाब दिया उससे ही पता चलता है कि उनमें पद की लालसा न थी। वह तो देश को आजाद देखना चाहते थे। उन्होंने कहा, 'मिस्टर, मैं न गवर्नर-जनरल बनना पसन्द करूंगा और न ही प्रधान मन्त्री। मैं तो किसी स्कूल में गणित का अध्यापक बनना अधिक अच्छा समझूंगा।'

छज्जू भगत ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि जिस समय लोकमान्य तिलक देश की आजादी के लिए काम करने लगे, उस समय उनका मार्ग पूरी तरह कांटों से भरा था। उन्होंने एक-एक कांटे को निकाला और आगे बढ़े।

गांधी जी ने भी तिलक के सम्बन्ध में लिखा है—'देश-प्रेम उनके लिए सबसे बड़ी तृष्णा थी। वही उनका धर्म था। जितनी दृढ़ता से स्वराज्य-धर्म का प्रचार उन्होंने किया, उतना किसी ने नहीं किया। उनका साहस कभी लड़खड़ाया नहीं। तिलक महाराज ने

देश की जनता में साहस का निर्माण किया और स्वराज्य के लिए तड़प पैदा कर दी। लोकमान्य ने ही लोगों को आजादी के लिए सब-कुछ कुर्बान कर देने की प्रेरणा दी।'

लोकमान्य तिलक अपने ही जीवन में स्वराज्य की कामना करते थे। वह तो पूरी नहीं हुई लेकिन स्वराज्य निकट जरूर आ गया।



राष्ट्रपिता गांधी

छज्जू भगत ने कहना शुरू किया—1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम कामयाब न हो सका। ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया ने कंपनी से हिन्दुस्तान का शासन अपने हाथ में ले लिया। लोगों ने सोचा था कि अंग्रेज गए और इसीलिए उन्होंने उन्हें भगाने के लिए पूरा सहयोग दिया था, लेकिन उनकी पकड़ और तेज हो गई। पुलिस के अत्याचारों से लोग कांपने लगे।

2 अक्तूबर 1869 को भारत में एक ऐसे व्यक्ति ने जन्म लिया जिसने लोगों के हृदय से 'लाल टोपी' यानी पुलिस का भय दूर कर दिया। उस महापुरुष का नाम था मोहनदास करमचंद गांधी जिसे सारा संसार महात्मा गांधी के नाम से जानता है और भारत के लोग जिसे बापू कहते हैं।

गांधी जी जब बैरिस्टर बनकर वकालत करने लगे तो उन्हें एक मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहां गोरे लोग काले लोगों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। गांधी जी को यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने विरोध करने का निश्चय किया और सत्य तथा न्याय की रक्षा के लिए वह डट गए। उन्होंने अपनी तरह के बहुत से कार्यकर्ताओं को बनाया और सत्याग्रह के अस्त्र को ईजाद किया। लेकिन उनके मन पर एक बात पत्थर की लकीर की तरह खिंच गई कि जब तक भारत गुलाम रहेगा तब तक दुनिया में भारतीयों का आदर नहीं हो सकता। उन्होंने गुलामी की जंजीर तोड़ने का फैसला किया। वह दक्षिण अफ्रीका से भारत आए और उन्होंने आजादी के लिए काम करना शुरू किया।

भारत में कांग्रेस नाम की राष्ट्रीय संस्था 1885 से ही काम कर रही थी। उस समय कांग्रेस केवल प्रस्ताव ही पास करती थी। पर धीरे-धीरे इस संस्था का स्वरूप बदला। लोकमान्य तिलक ऐसे नेता हुए जिन्होंने आजादी की बात उठाई। गांधी जी ने कांग्रेस की आवाज को गांव-गांव तक पहुंचा दिया। गांवों के लोगों ने गांधी जी को अपना मसीहा माना और जब गांधी जी ने लंगोटी पहन ली तब वह बाबा गांधी अथवा महात्माजी के नाम से सारे देश में माने जाने लगे।

लंगोटी पहनने की भी एक रोचक घटना है। गांधी जी कांग्रेस का संदेश घर-घर पहुंचाने के लिए गांवों की यात्रा कर रहे थे। एक बुढ़िया बापू से मिलने आई। उसके कपड़े बहुत मैले थे। गांधी जी ने उससे कहा माई धोती तो धो लिया कर। मैले कपड़े नहीं पहनने चाहिएं।

बुढ़िया ने रुआसी होकर कहा—बापू जब एक ही धोती हो तब धोऊं कैसे ? अगर धोने लगूं तो पहनूं क्या ?

गांधी जी यह सुनकर दंग रह गए। उन्होंने सोचा कि जिस देश में गरीबी इस सीमा तक बढ़ी हुई हो कि लोगों के पास इतने कपड़े न हों कि वे बदल भी सकें उस देश के कार्यकर्ता को तड़क-भड़क से नहीं रहना चाहिए। इसके बाद गांधी जी ने धोती कुरता और टोपी पहनना छोड़ दिया और एक धोती पहन कर रहने लगे। उनकी धोती भी घुटने के ऊपर तक की ही होती थी।

गांधी जी ने कपड़े की कमी को दूर करने और अपनी जरूरत का कपड़ा खुद बनाने के लिए चर्खा आन्दोलन चलाया और गांव-गांव में लोगों को सूत कातने की प्रेरणा दी। फिर क्या था देश भर के गांवों में चर्खे का गीत गूंजने लगा और लोग गाने लगे—

मेरा टूटे न चरखे का तार
चरखवा चालू रहे

खद्दर पहनने, सूत कातने और अपने ही देश में हाथ करघों पर जुलाहों का बनाया कपड़ा पहनने के आन्दोलन ने अंग्रेजों को परेशान कर दिया। लोगों में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग बढ़ा। फिर क्या था विदेशी कपड़ों की होलियां जलाई गईं।

गांधी जी ने अछूत कह कर पुकारे जाने वाले लोगों को हरिजन कहा। वह स्वयं हरिजनों की बस्ती में जाते थे और अक्सर वहीं ठहरा भी करते थे। गांधी जी हरिजनों

को सफाई की शिक्षा देते और उनमें यह भावना पैदा करते कि न कोई छोटा है और न बड़ा, सभी ईश्वर के पुत्र हैं। गांधीजी की देखा-देखी सभी लोग हरिजनों के कल्याण की बात सोचने लगे। आज के भारत में हरिजनों की भलाई के लिए बहुत से काम हो रहे हैं। हरिजनों में भी जागृति आई है। वे पढ़ने-लिखने लगे हैं और अपने बच्चों को ऊंची शिक्षा दिलाते हैं।

गांधी जी ने शराब के विरोध में आवाज उठाई और धरना दिया। उन्होंने लोगों से कहा कि शराब पीना बुरा है। इससे स्वास्थ्य तो खराब होता ही है, पैसे की बरबादी भी होती है। जो पैसा शराब पीने पर खर्च किया जाता है वही बच्चों को पढ़ाने, कपड़े आदि तथा अच्छे कामों पर खर्च किया जा सकता है। गांधी जी ने महिलाओं की उन्नति के लिए काम किया और उन्हें बराबरी का दर्जा दिलाने का प्रयत्न किया। गांधी जी ने अहमदाबाद के निकट साबरमती नदी के किनारे आश्रम बनाया। इस आश्रम में रहने वाले लोग सब काम खुद करते थे। यहां तक कि मल-मूत्र भी स्वयं उठाते थे। गांधी जी भी स्वयं यह काम करते थे। गांधी जी समय का बहुत पालन करते थे और छोटी से छोटी वस्तु बेकार नहीं जाने देते थे।

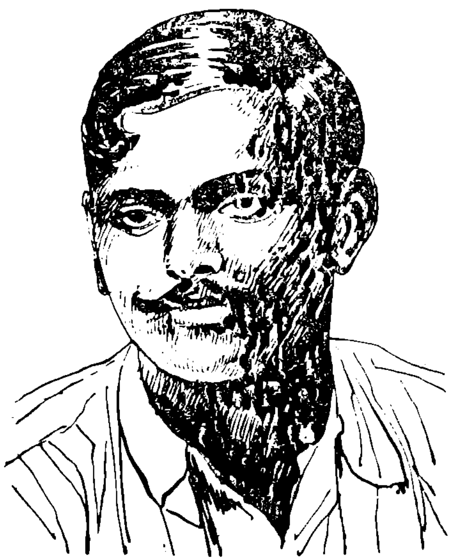
गांधी जी ने सोए हुए देश को जगा दिया। उनके आंदोलनों से राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जागृति आई। जैसे-जैसे जनता उठी अंग्रेज सरकार के अत्याचार भी बढ़ने लगे। पर अत्याचार का अंत एक दिन होता ही है। 15 अगस्त 1947 को देश आजाद हुआ। अंग्रेज यहां से चले गए, पर जाते-जाते भी उन्होंने देश को दो टुकड़ों में बांट दिया। गांधी जी को यह पसन्द न था पर उन्होंने देश के नेताओं की बात मान ली। देश के बटवारे के बाद पाकिस्तान से लाखों व्यक्ति शरणार्थी बनकर भारत आए। पूर्वी पाकिस्तान में जो अब बंगला देश बन चुका है, अल्पसंख्यकों पर अत्याचार हुए। गांधी जी नंगे पैर नोआखाली पहुंचे, तब शान्ति हुई। भारत में भी प्रतिक्रियास्वरूप सांप्रदायिक दंगे हुए। गांधी जी ने उसकी भी निंदा की और उनका दिल रो पड़ा। यह चल ही रहा था कि एक व्यक्ति ने 30 जनवरी 1948 को जब वह प्रार्थना सभा में जा रहे थे उनके सीने में रिवाल्वर से तीन गोलियां मारीं। गांधी जी 'हरे राम' कहते हुए भूमि पर गिर पड़े। अंत समय में राम का नाम ही उनकी जबान पर था। वह भारत में राम-राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

उनकी मृत्यु का समाचार सारे देश में पीड़ा के साथ सुना गया। दिल्ली में तो उस दिन मातम छा गया। दुनिया के नेताओं ने कहा—महामानव चला गया। शांति का मसीहा उठ गया।

देश एक प्रकार से अनाथ हो गया। देश की जनता ने उन्हें राष्ट्रपिता कहा और दिल्ली में राजघाट पर गांधी जी की समाधि बनाई गई।

महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों के कारण ही तो भारत भारत है।

बारह बेंत खानेवाला बालक



मियां नजीर ने बात आगे बढ़ाई। कहने लगे—'बाबूजी, आजादी के लिए इस देश के नन्हे-मुन्नों तक को जालिम अंग्रेज सरकार ने बेंत लगाने का हुक्म दिया'।

भारत गुलाम था। गुलामी की जंजीरों को काटने के लिए भारतीय कांग्रेस जोर-शोर से प्रचार कर रही थी। गांधीजी कांग्रेस के नेता थे और उन्होंने असहयोग आन्दोलन चला रखा था देश-भर में इस आन्दोलन की धूम थी। गांव-गांव और शहर-शहर में कांग्रेसी कार्यकर्ता विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करते और स्वदेशी का प्रचार करते फिरने लगे। उस समय की गोरी सरकार ने इसे अपने लिए चुनौती समझा। वह हर तरह से इस आन्दोलन को खत्म करना चाहती थी। इसके लिए उसने तरह-तरह के हथकण्डे अपनाए। खूब सख्ती की और लोगों को जेलों में ठूंस दिया।

उत्तर प्रदेश में, जो उन दिनों संयुक्त प्रान्त कहलाता था, कांग्रेस के इस असहयोग आन्दोलन की बड़ी गरमागरमी थी। वहां श्री जवाहरलाल नेहरू और उनकी पत्नी श्रीमती कमला नेहरू के साथ-साथ और नेता इस आन्दोलन को चला रहे थे। इसी असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में वाराणसी में, जो तब बनारस कहलाता था, एक सभा बुलाई गई। एक बहुत बड़ा जुलूस भी निकाला गया।

वाराणसी के जिला-हाकिम ने वहां दफा 144 लगा रखी थी, जिसके अन्तर्गत पांच से अधिक आदमियों का एक जगह जमा होना जुर्म माना जाता था। फिर वहां सभा हुई और जुलूस भी निकला। लोगों में जोश था और वे किसी भी कानून को तोड़ने में अपना गौरव मानते थे। उस समय लोग कांग्रेस के आन्दोलन में शामिल होना शान की बात

मानते और देश-सेवा समझते थे। सरकारी अधिकारियों ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी। लोगों को गिरफ्तार किया और जेल भेज दिया।

वाराणसी के किसी संस्कृत स्कूल में एक लड़के को उसके चाचा ने संस्कृत पढ़ने के के लिए भेजा था। उसको पढ़ाई-लिखाई में उतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी कि कुश्ती लड़ने और लड़ाई देखने में। वह अपना काफी समय गुल्ली-डंडा खेलने और पहलवानों की कुश्ती देखने ही में बिताता था। जब उसने लोगों के मुंह से जोरदार नारों की आवाज सुनी तब वह भी भीड़ में शामिल हो गया। उस छोटे-से बच्चे को नारे लगाते देख पुलिसवालों का खून खौल उठा। एक पुलिसवाले ने तमाचा मारते हुए उसे हथकड़ी पहना दी। वह तो चाहता ही यह था। आखिर उसे अंग्रेज जज के सामने पेश किया गया।

जज ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"आजाद !" तपाक से वह बोला।

"और बाप का नाम ?"

"परमेश्वर !" उसी साहस के साथ बच्चे ने जवाब दिया।

गोरा जज बच्चे के साहसपूर्ण उत्तरों से नाराज हो गया। उसने उसे अपनी तौहीन माना और बच्चे को कैद की सजा देने के साथ-साथ बारह बेंत लगाने की सजा भी सुना दी।

बेंत की सजा उन कैदियों को दी जाती थी जिनका अपराध बहुत बड़ा होता था, जो या तो जेल के नियमों को तोड़ते या उस समय के ऊंचे अफसरों पर हमला करते थे। बच्चे ने एसा कुछ नहीं किया था, फिर भी उसे सजा दी गई बेंत लगाने की।

जेल में बेंत लगाने का रिवाज भी बड़ा भयंकर था। वह उस तरह से नहीं होता जिस तरह मास्टरजी किसी लड़के को बेंत मार देते हैं। वहां एक महीने पहले ही बेंत लगाने वाला कर्मचारी उसका अभ्यास करता था। बेंत पानी में भिगो दिया जाता था और लगाते समय अपराधी को एक खम्भे से बांध दिया जाता था। बेंत उसके कूल्हे यानी कमर पर मारा जाता और तब तक बराबर लगाया जाता था जब तक कि वह बेहोश होकर गिर न जाए, या फिर जितने बेंत की सजा हो उतनी पूरी न हो जाए।

जेल के अधिकारियों को क्या गरज थी—वे यह क्यों देखते कि अपराधी की उम्र इस लायक नहीं है जो उसे बेंत की सजा दी जाए। उन्हें तो कानून का पालन करना था

श्रौर यकीन दिलाना था कि वे सरकार के पक्के खैरख्वाह हैं। श्राखिर निश्चित समय पर उस बहादुर बालक को बेंत लगाए गए। श्रौर बाबू, तुम्हें यह जानकर श्राश्चर्य होगा कि उस बच्चे ने उफ तक न की। हर बेंत पर वह 'महात्मा गांधी की जय', 'भारत माता की जय' बोलता रहा श्रौर बेहोश हुश्रा बारह बेंत खाने के बाद। सरकार ने उसे छोड़ दिया।

उसके सम्मान में वाराणसी में बहुत बड़ी सभा हुई। सभा में लाखों लोग मौजूद थे। वही बालक श्रागे चलकर चन्द्रशेखर श्राजाद के नाम से मशहूर हुश्रा और देश की क्रान्तिकारी पार्टी का नेता बना। जो बचपन में श्राजाद था, वह श्रन्त तक श्राजाद रहा।

चन्द्रशेखर आजाद को दल के लोग या तो 'श्राजाद भैया' नाम से पुकारते थे या फिर 'पण्डितजी' कहते थे। जब भी कोई आजाद भैया से पूछता कि आखिर वह क्यों इस सरकार को उखाड़ना चाहते हैं और क्यों अंग्रेजों की हत्या करते हैं तो वह श्रपनी कमर में लगे बेंतों के दाग दिखाते। श्राजाद उसे उत्तर देते—'ये दाग कहते हैं कि मैं उस शासन का विरोध करूं जिसके हुक्म से ये दाग लगे हैं।'

चन्द्रशेखर आजाद ने क्रान्तिकारी दल का गठन किया। उसके नाम से तत्कालीन सरकार कांपती थी। उन्होंने श्रनेक साहसिक काम किए किन्तु पुलिस उन्हें न पकड़ सकी।

एक बार की बात है कि पुलिस का एक सिपाही उनके पीछे पड़ा। जब कोई उपाय न सूझा तो वह पिस्तौल तानकर खड़े हो गए और पुलिसवाले से कहा—'श्रगर हिम्मत हो तो श्रागे आश्रो। हम अपना काम करते हैं तुम अपना काम करो।'

चन्द्रशेखर श्राजाद झांसी के पुलिस कप्तान के यहां ड्राइवर बनकर रहे और उन्हें कोई न पहचान सका। वह दिन में साहब बहादुर की ड्यूटी देते और रात में घने जंगलों में जाकर चांदमारी करते। कहते हैं कि उनका निशाना इतना सधा हुश्रा था कि चांदनी रात में वह चवन्नी तक उड़ा देते थे।

पुलिस को चकमा देने की उनकी बहुत-सी कहानियां मशहूर हैं। लाला लाजपतराय की मौत का बदला लेनेवालों में उनका नाम है।

चन्द्रशेखर श्राजाद ने जो कुछ किया, वह देश को आजाद कराने के लिए ही था। उन्हें गिरफ्तार करने के लिए पुलिसवालों ने हजारों रुपये का इनाम रखा लेकिन वह गिरफ्तार न हो सके।

इलाहाबाद में अल्फ्रेड पार्क में वह बैठे थे कि किसी अपने ही आदमी ने गद्दारी की। उसने पुलिस को खबर कर दी। पुलिस की पूरी गारद ने पार्क को घेर लिया। आजाद एक पेड़ की आड़ में निशाना लगाकर मुकाबला करते रहे। लेकिन जब देखा कि पूरी गारद का मुकाबला वह अकेले नहीं कर सकते और भाग भी नहीं सकते क्योंकि एक गोली जांघ में लग चुकी थी तब खुद अपने हाथों अपने प्राण लेकर वह इस दुनिया से कूच कर गए।

कहते हैं कि उनके निर्जीव शरीर पर न जाने कितनी गोलियां दागी गई। पुलिस को साहस न हुआ कि उनके पास जाए। वह वीर था, आजाद था और आजादी के लिए पूरी पुलिस से अकेले सामना करता हुआ जूझ गया।

सहोदराबाई राय



भारत को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने कई ऐसे व्यक्तियों को जन्म दिया जिन्होंने अपूर्व वीरता, अटूट धैर्य तथा दृढ़ देशभक्ति का परिचय दिया। देश के लिए मर मिटने वाले इस देश में कई जन्मे और देशभक्ति की वेदी पर प्राणों की आहुति चढ़ाकर, देश-भक्ति का आदर्श स्थापित कर गए। किन्तु पुरुष ही नहीं, यहां की महिलाओं ने भी समय-समय पर साहस, वीरता और देशभक्ति का जो परिचय दिया, वह संसार के इतिहास में संभवत: बेजोड़ है। दुर्गावती और झांसी की रानी की शौर्यपूर्ण गाथाओं से कौन भारतीय अनभिज्ञ होगा। उनका नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जा चुका है। इन्हीं वीरांगनाओं की परम्पराओं को कायम रखने वाली एक महिला श्रीमती सहोदराबाई राय ने अपने वीरतापूर्ण कार्य से, भारतीय महिलाओं के उज्ज्वल इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। गोआ को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिए, 15 अगस्त 1955 को जो सत्याग्रह किया गया उसमें सहोदराबाई ने देशभक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, राष्ट्रीय झंडे को न झुकने देने के लिए प्राणों को होम देने की जो क्षमता दिखाई और महिला होते हुए भी जिसने बड़े-बड़े वीरों को थर्रा देने वाला कार्य किया, उससे भारत तो गौरवान्वित हुआ ही, विदेशों में भी भारतीय महिलाओं के शौर्य और देशभक्ति की प्रशंसा की जाने लगी और भारतीय महिलाओं का सभी लोहा मानने लगे।

यह आवश्यक नहीं कि देशभक्ति के लिए धनी कुल में ही जन्म लिया जाए और ऐसा भी नहीं है कि उच्च शिक्षा ग्रहण किए बिना देशभक्ति का पाठ पढ़ा ही नहीं जा सकता। सहोदराबाई इसका ज्वलन्त प्रमाण है। उनका जन्म एक साधारण किसान परिवार में हुआ। पिता चाहते थे कि पुत्री को उच्च शिक्षा दी जाए, किन्तु धनाभाव के

कारण उनकी यह इच्छा कभी कार्यरूप में परिणत नहीं हुई। किन्तु जहां चाह वहां राह। सहोदराबाई किसी न किसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करना चाहती थीं और उन्होंने स्वयं इसका प्रबन्ध किया। पास-पड़ोस की शिक्षित महिलाओं से उन्होंने इतनी शिक्षा प्राप्त कर ली कि धार्मिक ग्रन्थों का भली भांति अध्ययन कर सकें। हिन्दी ही नहीं अन्य भाषाओं की जानकारी भी उन्होंने प्राप्त कर ली।

श्रीमती सहोदराबाई बचपन से ही जहां एक ओर कुशाग्र बुद्धि और तेजस्विनी रहीं तो दूसरी ओर स्वाभिमानिनी भी। अत्याचार उन्हें किसी का भी सह्य नहीं हुआ। देश और समाज के प्रति उनके हृदय में अटूट प्रेम है। वह एक सच्ची तथा कर्मठ सेविका हैं, किन्तु उन्हें अपने प्रचार अथवा प्रसिद्धि की किंचित मात्र इच्छा नहीं।

सन 1942 के लगभग उनके पति का स्वर्गवास हो गया। वह विधवा हो गईं किन्तु उन्होंने साहस न खोया। पति का देहान्त हो जाने के उपरान्त उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ देश को अर्पण कर दिया। तब से उन्होंने न जाने कितने सार्वजनिक कार्यों और आन्दोलनों में भाग लिया। 1942 के आन्दोलन में उन्होंने जी खोलकर भाग लिया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जो कुछ वह कर सकती थीं किया। आसपास के क्षेत्रों में उन्होंने जनता की भावनाओं को जागृत किया और विदेशी शासकों से असहयोग करने के लिए जनता को प्रेरणा दी। अंग्रेज शासक उनसे अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और उन्होंने सहोदराबाई को छः मास के लिए जेल के सीखचों में बन्द कर दिया। किन्तु उनकी देश-भक्ति में तनिक भी न्यूनता न आई।

श्रीमती सहोदराबाई ने महात्मा गांधी के साथ नोआखाली की पैदल यात्रा भी की थी। नमक-आन्दोलन में भी उन्होंने भाग लिया था। जंगल सत्याग्रह में भी वह पीछे नहीं रहीं। बंगाल और बिहार में जिस समय भीषण अकाल पड़ा और हजारों व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे थे, उस समय भी उन्होंने कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया। वह स्वयं इन अकालग्रस्त क्षेत्रों में गईं और वहां जो कुछ सहायता उनसे हो सकी की।

श्रीमती सहोदराबाई कांग्रेस की सदस्या रही हैं। वह सागर तहसील के करीपुर ग्राम में रहती हैं और स्थानीय कांग्रेस के प्रायः प्रत्येक कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेती रहीं हैं। पिछले सात-आठ वर्ष से वह स्थानीय जनपद सभा, जिला बोर्ड और स्थानीय बोर्ड की सदस्या रहीं। भारतीय संसद में भी वह सदस्या रहीं। किसी संस्था का सदस्य बन जाना ही उनका लक्ष्य नहीं है। सदस्य बनकर अपने कर्त्तव्य का सुचारु रूप से निर्वाह

करना ही वह एक सदस्य का धर्म मानती हैं। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत को चरितार्थ न कर, जैसा कि प्रायः होता है, वह अपने दायित्व के प्रति जागरुक रहने वाली तथा अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करने वाली महिला हैं। करीपुर तथा आसपास के ग्रामवासियों के हित के लिए, उन्होंने स्वयं क्षति उठाकर जो कुछ किया, वह दिन के प्रकाश की भांति उज्ज्वल है।

श्रीमती सहोदराबाई सदाचारिणी और विदुषी हैं। सीधा-सादा जीवन उन्हें प्रिय है। तड़क-भड़क में उन्हें किसी ने कभी नहीं देखा। तलवार चलाना वह भली भांति जानती हैं। निशानेबाजी में भी वह पीछे नहीं। निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी है। भयंकर हिंसक जानवरों से भी उन्हें कोई भय नहीं। एक निर्भीक तथा कुशल एवं अनुभवी शिकारी की भांति वह सहज ही इन भयंकर जानवरों को मार गिराती हैं।

किन्तु जिस घटना ने इन्हें वीरांगनाओं की श्रेणी में ला खड़ा किया, जिसने उन्हें अमरत्व प्रदान किया, वह है गोआ में सत्याग्रह की घटना। सत्याग्रहियों पर जो पाशविक और नृशंस अत्याचार गोआ के तत्कालीन पुर्तगाली शासक कर रहे थे, वह अमानवीय तो था। उनसे रोंगटे भी खड़े हो जाते हैं। फिर भी सहोदराबाई ने अपना नाम सत्याग्रहियों में लिखवा ही दिया। 15 अगस्त 1955 को किया जाने वाला सत्याग्रह, तब तक के सभी सत्याग्रहों से कठोर था। पुर्तगालियों ने गोआ की सीमा पर फौज तैनात कर, उसे निहत्थे तथा अहिंसक सत्याग्रहियों पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी थी। सत्याग्रह से पूर्व ही यह बात सारे भारत में फैल चुकी थी कि गोआ में सत्याग्रहियों पर गोलियां चलेंगी। ऐसी अवस्था में सत्याग्रह में सम्मिलित होने का अभिप्राय मौत से खेलना था। किन्तु इन सब विषम परिस्थितियों को देखते हुए भी, सहोदराबाई का साहस न डिगा। वह सत्याग्रह करने के लिए यथापूर्व तत्पर रहीं।

निर्धारित दिन सत्याग्रहियों ने गोआ की सीमा में प्रवेश किया। आज्ञानुसार पुर्तगाली सैनिकों ने गोली चला दी। सत्याग्रही जमीन पर लेट गए और आगे बढ़ने का क्रम रुक गया। किन्तु कुछ ही क्षण पश्चात जत्थे के नेता के हाथ से भारतीय तिरंगा लेते हुए श्रीमती सहोदराबाई भारत माता की जय का नारा लगाते हुए आगे बढ़ीं। पुर्तगाली सेना के क्रूर सैनिकों ने एक महिला को भी नहीं छोड़ा और गोली चला दी। गोलियों की बौछार से वह घायल हो गईं। किन्तु उन गोलियों में इतनी शक्ति कहां थी कि एक सच्ची देशसेविका के प्राणों को हर सकतीं। उन्हें अस्पताल ले जाया गया वहां उन्होंने कहा—"ठीक होते ही मैं फिर सत्याग्रह करने गोआ जाऊंगी।"

श्रीमती सहोदराबाई की प्रशंसा में जो कहा जाए कम है। जब सत्याग्रह के लिए उन्होंने अपने ग्राम से प्रस्थान किया तो जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा था—'तुम्हारे ही हाथ में इस तिरंगे की लाज है।" और सचमुच इस वीर रमणी ने सारे संसार को दिखा दिया कि किस प्रकार अपने राष्ट्रीय ध्वज की रक्षा की जाती है।

श्रीमती सहोदराबाई ने निस्सन्देह प्राणों की बाजी लगाकर भारत का जो गौरव बढ़ाया है वह स्तुत्य है। उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के ये शब्द कि 'इस महिला ने जो कुछ किया है उससे संसार के किसी भी व्यक्ति को गर्व हो सकता है, हम भारतवासियों का तो कहना ही क्या', चिर-स्मरणीय हैं।

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार